

शिक्षा की सेहत

सन् 2019 आने को है और देश में चुनाव की सरगर्मियां जोरों पर हैं। पांच राज्यों में विधान सभा चुनाव चल रहे हैं और लोकसभा के आम चुनाव बस देहरी पर खड़े हैं। चुनावी वादों और घोषणा पत्रों के इस शोर में शिक्षा एक कोने में बैठी सिसक रही है। आज सार्वजनिक शिक्षा अपनी आखिरी लड़ाई लड़ रही है। जिस शिक्षा का अधिकार कानून 2009 को सार्वजनिक शिक्षा के लिए एक उम्मीद के तौर पर देखा गया था उसका खुद का भविष्य काफी नाउम्मीदी से भर चुका है। किसी पार्टी के भाषणों, बयानों में (हो सकता है वह घोषणा पत्र में एक बिन्दु के रूप में मौजूद हो, वैसे भी घोषणा पत्र मात्र औपचारिकता बन कर रह जाते हैं) शिक्षा प्राथमिकता में नहीं है। यह बात इस तरफ इशारा करती है कि हमारे नेताओं का बहुसंख्य ऐसे वर्ग से आता है या ऐसे वर्ग में तब्दील हो जाता है जिसके लिए सार्वजनिक शिक्षा की सेहत कोई मायने नहीं रखती। सरकार द्वारा दिए गए आंकड़े* भी इसकी तस्दीक करते हैं कि शिक्षा सरकार की प्राथमिकता में नहीं है।

पूरे देश में माध्यमिक व आरंभिक शिक्षा में कुल मिलाकर लगभग 10 लाख से ज्यादा शिक्षकों के पद खाली पड़े हैं। इनमें से 9 लाख से ज्यादा आरंभिक शिक्षा में व 1 लाख से भी ज्यादा माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर खाली पड़े हैं। शिक्षकों के कुल रिक्त पदों में से लगभग आधे उत्तर प्रदेश व बिहार में खाली पड़े हैं। यह आंकड़े 30 जुलाई, 2018 को एक प्रश्न का जवाब देते हुए मानव संसाधन राज्य मंत्री उपेन्द्र कुशवाहा ने लोकसभा में प्रस्तुत किए थे। आंकड़े बताते हैं कि आरंभिक शिक्षा में उत्तर प्रदेश में शिक्षकों के 7.59 लाख स्वीकृत पदों में से लगभग 2.24 लाख व बिहार में लगभग 5.29 लाख स्वीकृत पदों में 2.03 लाख पद खाली पड़े हैं वहीं माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर जम्मू व कश्मीर और बिहार पहले तथा दूसरे स्थान पर हैं जहां क्रमशः शिक्षकों के 25657 व 48468 स्वीकृत पदों में से 21221 और 17154 पद खाली हैं। लोकसभा में सरकार द्वारा प्रस्तुत किए इन आंकड़ों के अलावा आंकड़ों की बात करें तो हरियाणा में आरंभिक से माध्यमिक शिक्षा तक लगभग 37 हजार से ज्यादा शिक्षकों के पद खाली पड़े हैं वहीं मध्यप्रदेश व आसाम में क्रमशः 65 हजार व 27 हजार से ज्यादा शिक्षकों के पद रिक्त हैं। दिल्ली में 25 हजार से ज्यादा शिक्षकों के पद खाली हैं।

सरकारी स्कूली शिक्षा की यह तस्वीर काफी डरावनी है। शिक्षा से उम्मीद की जाती है कि वह लोगों की सामाजिक हैसियत में सकारात्मक बदलाव लाएगी उन्हें एक विवेकवान नागरिक बनाएगी। किन्तु यहां तो शिक्षा खुद अपनी हपनी हैसियत बचाने की लड़ाई लड़ रही है। शिक्षा का यह हाल अनायास नहीं हुआ है। भारत में उदारीकरण की शुरुआत के साथ पहले डीपीईपी एवं बाद में सर्वशिक्षा अभियान जैसे कार्यक्रमों में सब को शिक्षा उपलब्ध करवाने की बात की जाने लगी थी। यह 1986 की शिक्षा नीति के बाद का समय था। शिक्षा के सार्वजनीनकरण के इस लक्ष्य को हासिल करने के दबाव के चलते हमारे नीति नियंत्रकों ने शिक्षा के अनौपचारिकरण की ओर कदम बढ़ा दिए और यही वह चूक थी जिसने आने वाले सालों में शिक्षा की सेहत बिगाड़ने का रास्ता प्रशस्त कर दिया। शिक्षा गारंटी स्कीम के स्कूल, अनौपचारिक केन्द्र, राजीव गांधी शिक्षा केन्द्र और न जाने किस-किस तरह के केन्द्र शिक्षा को सर्व जन तक पहुंचाने के बहाने वोट हासिल करने के साधन बना दिए गए। शिक्षकों के बरक्स 'पैरा टीचर्स' की एक पूरी पांत खड़ी कर दी गई। इस तरह हमने शिक्षा में नया स्तरीकरण पैदा कर दिया। हम शिक्षा को सर्व जन को उपलब्ध करवाने के इस उपक्रम

* <https://indianexpress.com/article/jobs/teachers-jobs/over-10-lakh-posts-of-teachers-lying-vacant-across-india-govt-5283726/>

में भूल गए कि शिक्षा के उद्देश्य में बराबरी व न्याय जैसी धारणाएं गुथी होती हैं। यानी उपलब्धता में गुणवत्ता के मानक निहित होंगे ही होंगे और वे सबके लिए समान होंगे अन्यथा हम उपलब्धता व गुणवत्ता के द्वंद में फंस जाएंगे और हुआ भी वही। बात बढ़ते-बढ़ते यहां तक पहुंच गई कि राज्यों में पूर्णकालिक शिक्षकों की भर्ती को व्यर्थ मान लिया गया और उनकी जगह सस्ते व कम योग्यता वाले 'पैरा टीचर्स' को शिक्षा के सार्वजनीनकरण का रामबाण नुस्खा मान लिया गया। गुणवत्ता व उपलब्धता के द्वंद को सरकारी स्तर पर पहली 'बार राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005' में व उससे संबंधित फोकस समूहों के दस्तावेजों में एक आवाज मिली। लेकिन तब तक काफी पानी बह चुका था। स्कूलों के स्तरीकरण व पढ़ने वालों की हैसियत के हिसाब से उनके हिस्से आने वाले स्कूल व उनकी समस्याओं को इन दस्तावेजों ने पहचाना और दर्ज किया।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या व उसके दस्तावेजों के बाद शिक्षा की गुणवत्ता को सुनिश्चित करने की ओर एक बड़ा कदम हमें 2009 में आया शिक्षा अधिकार कानून के रूप में दिखाई देता है। यह कानून जो 1986 की शिक्षा नीति के बाद से लगभग दो दशकों तक अटका रहा अंततः सन् 2009 में आकार ले सका। लेकिन वहां भी हम चूक गए। हमने स्कूलों के स्तरीकरण को इसमें एक कानूनी मान्यता दे दी। यानी अब शिक्षा में गैर बराबरी कानूनन रूप में मान्य है। इसकी वजह इस कानून के पास होने में हुई देरी में छिपी है। यह कानून आने में इतनी देर हो चुकी थी कि तब तक उदारीकरण अपने पांव जमा चुका था और उसके चलते निजी स्कूलों की लॉबी इतनी मजबूत हो चुकी थी कि उसने समान स्कूल की अवधारणा को इस कानून की देहरी पर भी नहीं चढ़ने दिया। आज तो हालत यह है कि प्राइवेट स्कूल की लॉबी ने इस कानून में निहित गुणवत्ता के न्यूनतम मानदंडों पर भी अपनी असहमति की तलवार लटका रखी है। इसके प्रावधानों को बदल दिए जाने का इतना दबाव है कि यह अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। छोटे निजी स्कूल इसके मानक संबंधी प्रावधानों को अपने अनुकूल बदलवाना चाहते हैं तो बड़ी पूंजी से चलने वाले बड़े स्कूल इसके प्रावधानों की परवाह तक नहीं करते।

जिस शिक्षा से उम्मीद की जा सकती थी कि वह सामाजिक स्तरीकरण को चुनौती देती हुई व्यक्ति को उससे मुक्ति दिलाने में मदद करेगी हमने उसी शिक्षा में स्तरीकरण को मान्यता देकर कमजोरों को कमजोर बने रहने के लिए छोड़ दिया।

कुल मिला कर बात यह है कि जब हम नीतियों व कानून बनाने के स्तर पर देरी करते हैं और उन्हें बनाते वक्त दूर दृष्टि नहीं अपनाते तो उनके परिणाम बहुत घातक होते हैं। ♦

प्रोफेस